पेज़ंट और फार्मर[1]

जी. शिवरामकृष्णन् (07 जून 2022)

पेज़ंट और फार्मर

समाजशास्त्री और मानवविज्ञानी (anthropologists) आधुनिक समाज के वे विशेषज्ञ विद्वान हैं जिन्होंने पेज़ंट (peasant) और पेज़ंट समाजों (peasant societies) का विस्तार से अध्ययन किया है। हालांकि, समाजशास्त्री पेज़ंट और फार्मर के बीच फर्क करते हैं, हमारे यहाँ आम समझ में ऐसा कोई स्पष्ट अंतर माना नहीं गया है। शायद यही कारण है कि भारतीय भाषाओं में पेज़ंट और फार्मर के लिए ऐसे अलग-अलग शब्द प्रचलित नहीं है जो इन दो का अंतर जताते हों।

पेज़ंट समाजों के बारे में समाजशास्त्रियों में मान्यता यह रही है कि वे उन स्वयंपूर्ण जीवन- निर्वाही (self-sufficient subsistence) प्रणालियों में बसर करते हैं जिनमें लेन-देन के लिए बहुत ज्यादा उत्पादन शेष नहीं बचता। इन समाजों में ऐसी औद्योगिक गतिविधियों का अभाव होता है, जो खेती से सीधे तौर पर जुड़ी हुई नहीं होतीं। समाजशास्त्री किसी समाज के अंतर्गत सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं के प्रभावी होने की स्थिति से भी पेज़ंट समाजों को जोड़ते हैं। इन समाजों की अर्थ-व्यवस्थाओं को 'नैतिक अर्थव्यवस्था' कहा गया है। 'नैतिक अर्थव्यवस्था' वह है जिसमें जहाँ एक तरफ समृद्ध काल में पेज़ंट शासक को कुछ अधिक लगान तथा कर देने से पीछे नहीं हटता, वहीं संकट काल में शासक से उदार बर्ताव की उम्मीद भी रखता है। ऑस्कर ल्यूइस जैसे कुछ मानवविज्ञानी पेज़ंट समाजों की संस्कृति को 'गरीबी की संस्कृति' कहते हैं। उनका मानना है कि यह इन समाजों का अन्तर्निहित गुण है। हमारे देश के संदर्भ में 'जाति' को भी पेज़ंट समाजों का एक हिस्सा माना जा सकता है। इन समाजों में जीवन सरल होता है, तथा व्यक्ति का सामाजिक स्थान और भूमिका परम्परा से तय होती है। साथ ही जमाखोरी तथा शोषण के पैमाने बहुत छोटे होते हैं। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विस्तार के साथ पेज़ंट समाज विसर्जित हो कर पूंजीवादी खेती करने लगेंगे, इस मत पर सभी समाजशास्त्री एकजुट हैं।

दूसरी तरफ, पेज़ंट से एकदम अलग किस्म की व्यावसायिक पूंजीवादी फार्मर की गतिविधियाँ बाजार से प्रभावित और नियंत्रित होती हैं। चूँकि उत्पादन बाजार के लिए किया जाता है, कृषि-उपज की लागत और बाजार में मूल्य निर्णायक और महत्वपूर्ण हो जाते हैं। पेज़ंट समाज पेज़ंट के व्यावसायिक पूंजीवादी फार्मर में परिवर्तित होने को टाल नहीं सकते। हाँ, अगर उनका अस्तित्व शेष दुनिया से सम्पूर्णतया अलग-थलग हो, तब शायद वे ऐसा कर पायें। हालांकि इक्कीसवीं सदी

[1] यह लेख अंग्रेजी से अनुवादित है। लेख में दा तरह की खेती से सम्बंधित व्यक्तियों, समाजों (peasant and farmer) के विषय में बात रखी गयी है। लेकिन, जैसा कि लेखक ने आरम्भ में ही स्पष्ट किया है, हमारी भाषाओं में इन दो में फर्क जताते हों ऐसे दो शब्द प्रचलित नहीं हैं। इसलिये, चूँकि peasant (पेजंट) और farmer (फार्मर) समाज जो खेती करते हैं वह किन अर्थों में भिन्न है इस बारे में लेख में पर्याप्त विवरण है, हमने मूल अंग्रेजी लेख के ही इन दो शब्दों को अनुवादित लेख में बरकरार रखा है। यहाँ यह भी कहना होगा कि हमारे यहाँ, विशेषतया पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली, दक्षिण के राज्य आदि इलाकों में, या मीडिया में अब फार्मर शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में होता है, वह लेख में इस शब्द से अभिप्रेत अर्थ से कुछ भिन्न है।

तथा वैश्वीकरण की दुनिया में पेज़ंट समाजों की बात करना मुश्किल है, इन समाजों की संस्कृति के अंश, उनके मूल्य, संस्थाएं और आस्थाएं आज भी मौजूद दिखाई देते हैं। लेकिन, यहाँ हमारा सरोकार भविष्य में कभी पेज़ंट जीवन या संस्कृति से संपूर्णतया मुक्त हुआ भी जा सकता है या नहीं इस सवाल से नहीं है।

हमारे यहाँ का पेज़ंट समाज

हमारे देश के पेज़ंट समाज अन्य पेज़ंट समाजों से, विशेषतः यूरोप या पश्चिम के पेज़ंट समाजों से काफी अलग थे। दोनों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंतर तो यह है कि हमारे यहाँ कभी 'सामंती प्रथा' (feudalism) थी ही नहीं। ऐसा लगता है कि इसलिए हमारे यहाँ पेज़ंट पश्चिम की अपेक्षतया कम प्रताड़ित था। भारतीय पेज़ंट ने शायद ही कभी अपनी उपज के छंठे हिस्से से अधिक राज्य या राजनीतिक सत्ताधारियों को दिया हो। यूरोप में स्थिति इसके एकदम विपरीत थी। उत्तरी फ्रांस (नॉर्मंदी) पर दसवीं सदी से काबिज हुए उत्तर यूरोप से आये नॉर्स लोग नॉर्मन कहलाते हैं। ग्यारहवीं सदी में इंग्लॅण्ड पर नॉर्मनों ने चढ़ाई कर दी और भारी विजय प्राप्त की। उसके बाद से अंग्रेज पेज़ंट अपने राजनीतिक मालिकों को उपज का सत्तर फीसदी हिस्सा दिया करता था। अपनी उपज का छंठा हिस्सा देने की प्रथा भारत ही नहीं पूरे दक्षिण एशिया में प्रचलित थी। इस स्थिति से यह अनुमान बनता है कि अपने यूरोप के साथी की तुलना में यहाँ का पेज़ंट कहीं अधिक स्वायत्त, स्वतन्त्र और कम शोषित था। यह कहना भी उचित होगा कि जाति वह सामाजिक संस्था थी जिसने हमारे यहाँ के पेज़ंट समाजों के बिखराव की रोक-थाम और उनकी स्वायत्तता को बचाए रखने में अव्वल भूमिका अदा की होगी।

अंग्रेजों के आगमन ने इन व्यवस्थाओं को झकझोर कर रख दिया। देश पर काबिज होते ही जो पहला काम अंग्रेजों ने किया वह था परमानेंट सेटलमेंट एक्ट, 1793 को लागू करना। इसके तहत ज़मींदारों का वर्ग अस्तित्व में आया। इस वर्ग को पेज़ंट से राजस्व मंडलों द्वारा तय लगान वसूलने और वह न मिलने पर उसकी जमीन जब्त करने के अधिकार बहाल हुये। इन मंडलों द्वारा तय लगान के स्तर के लगान हमारे यहाँ कभी भी लागू नहीं थे। अंग्रेज गवर्नरों को यह पता लगने पर काफी खीज हुई कि यहाँ तो लगानों के कम होने साथ ही तमाम जमीनें लगान-मुक्त भी हुआ करती थीं। यह भी कि इस प्रकार की जमीनें देश के अधिकतर हिस्सों में अस्तित्व में थीं और उनकी मात्रा उपजाऊ जमीनों के लगभग 30-40 प्रतिशत थी। इन जमीनों को मन्यम, या माफी या ईनाम जमीनें कहा जाता था, तथा ये तमाम व्यक्तियों, संस्थाओं और सामाजिक कार्यो के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों के पास थीं। अंग्रेजों ने तरह-तरह के तर्कों के आधार पर इन जमीनों के अधिकारों को समाप्त करने के प्रयास किये। एक तरीका था यह दोष जड़ने का था कि ये मन्यम / ईनाम जमीने जिनके पास थीं उन्होंने वे कार्य किये ही नहीं जिनके लिये कि जमीनें उनको बहाल हुई थीं। इस प्रकार पचास साल में लगभग सभी मन्यम / ईनाम जमीनों के अधिकार समाप्त कर दिए गये।

हमारे देश के पेज़ंट समाज पश्चिमी देशों के पेज़ंट समाजों से अलग प्रकार के थे ऐसा मानने का कारण मात्र यही नहीं है कि यहाँ सामंती प्रथा नहीं थी। यूरोप के पेज़ंट की तुलना में लगान बहुत कम होने के अलावा, अध्ययनों में सामने

आये आँकड़े यह भी बताते हैं कि सींचाई और स्थायी खेती के लिए जरूरी सामूहिक जमीनें तथा जंगल जैसी अन्य व्यवस्थाओं के बारे में यहाँ के पेज़ंट समाज स्वायत्त थे। इन समाजों के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाओं के प्रबंधन और सातत्य के लिए वे अपनी उपज का काफी बड़ा हिस्सा अलग कर लेते थे। इस विषय में लगाए गये अनुमान बताते हैं कि धोबी, नाई, लोहार, बढई इ. की कारीगर सेवाओं के लिए गाँव की उपज का 15 से 40 फीसदी हिस्सा गाँव की तरफ से बहाल हुआ करता था। प्रखर गांधीवादी विचारक धरमपाल जी के तमिल नाडु के चेंगलपटटू जिले के 2000 गाँवों के लिए उपलब्ध सन् 1760 के आंकड़ों के अध्ययन से ये तथ्य उजागर हुए हैं। हमारे देश के अन्य हिस्सों में भी कमोबेश इसी प्रकार की व्यवस्थाएं रही होंगी। इसका अर्थ यह निकलता है कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ के पेज़ंट समाज अपेक्षतया अधिक स्वायत्त थे।

स्वतंत्रता के बाद की प्रक्रियाएं

अंग्रेजों से स्वतंत्रता हासिल करने के बाद पेज़ंट के लिए स्थितियों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बेनामी ज़मींदारी (absentee landlordism) को समाप्त करने के लिये केन्द्रीय कानून बने। कुछ राज्यों ने भी ऐसे कानून बनाये। साथ ही 'जो जोते, जमीन उसी की' के लिए भी कानून ईजाद हुए। हालांकि, इन कानूनों को धीरे धीरे ही लागू किया जा सका, अंग्रेजी शासन ने तबाह किये गाँवों में स्थिति काफी बदली। यूरोप में तो पेज़ंट अपनी जमीन से निष्कासित हुआ और शहरों में जाकर नये उद्योगों में वेतनधारी गुलाम बन गया। इसके विपरीत हमारे यहाँ गाँवों से शहरों में किसी बड़े पैमाने का स्थानान्तरण नहीं हुआ। इसका कारण उद्योगों का अभाव हो सकता है। यह भी कारण रहा होगा कि हमारे यहाँ पेज़ंट समाज में बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी जो जमीन के छोटे टुकड़ों पर खेती किया करते थे।

हो सकता है कि गावों से स्थानान्तरण छोटे पैमाने पर ही हो पाने में जाति की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण रही हो। जो पेज़ंट शहरों में जाकर उद्योगों में अकुशल कामगार बने भी, उनमें से बहुतेरे अपने परिवारों को गावों में ही उनकी जोत की जमीन पर छोड़ गए। इस तरह जो शहरों में जाने के लिए बाध्य हुए, या जो बम्बई-कलकत्ता की चमक-दमक से आकृष्ट भी हुए, उन्होंने गाँव से अपना रिश्ता तोड़ नहीं दिया। इस बात में भी यहाँ का पेज़ंट यूरोप के पेज़ंट से अलग दिखता है। उदाहरण के तौर पर, आज भी जो हिन्दुपुर, कृष्णगिरि या धर्मपुरी जिलों के गाँवों से बेंगलूरु आकर ठेला-गुमठी चलाते हैं, या चमड़े का काम करते हैं या अस्थायी मजदूरी करते हैं, हर साल बोआई-कटाई के दौरान अपने गाँव वापस जाकर परिवार के कामों में हाथ भी बँटाते हैं।

इस संदर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात है। यूरोप ने सामंतवाद (feudalism) से पूंजीवाद (capitalism) में परिवर्तन की जिस प्रक्रिया का अनुभव किया वह नितांत हिंसक थी। हमारे यहाँ पेज़ंट तरीके की खेती का व्यावसायिक खेती में परिवर्तन बिना किसी बड़ी भारी उथल-पुथल के हुआ। भूमि-सुधार, व्यापारी कृषि की पैरोकारी, यांत्रिकीकरण, रसायनिक खादों का भरपूर समर्थन, देश के अधिकतर हिस्सों में सींचाई की व्यवस्थाओं का विस्तार, खेती के आधुनिकीकरण में सरकार की भारी पहल और कृषि-विश्वविद्यालयों को बढ़ावा इन सभी ने पेज़ंट को फार्मर बनाने में मदद की। पिछली सदी के सातवें

दशक तक हरित क्रान्ति के चलते 'भूमि-सुधार' राजनीतिक दलों के घोषणापत्रों से ओझल हो गया। 'बंधुआ मजदूरी प्रथा की समाप्ति' और 'जो जोते, जमीन उसी की' की जगह 'फसलों के लिए लाभकारी दाम' और 'उपजों की सरकारी खरीद' पर जोर दिखाई देने लगा। हमारा कहना यह कत्तई नहीं है कि भारत में जिस सामंती व्यवस्था के अस्तित्व की बात की जाती है वह स्वतंत्रता के बाद शान्ति से विसर्जित हो गई। लेकिन यह कहना भी शायद गलत न होगा कि स्वयंपूर्ण जीवन-निर्वाही खेती से व्यावसायिक खेती में परिवर्तन का रास्ता अधिकतर टूट तथा गड्ढों से मुक्त और समतल ही रहा। खेती को बाजारों से जोड़ने और पूंजीवादी खेती को बढ़ावा देने के लिए उठाये गए नीतिगत कदमों की कोई बड़ी खिलाफत हुई हो, ऐसा नहीं है। खेती की नई तांत्रिकी, यांत्रिकीकरण, अधिक उत्पादन देने वाले हाइब्रिड बीज और रसायनिक खादों की सरकारी पैरोकारी को भी किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। 'खेती का आधुनिकीकरण' उस जमाने का बड़ा नारा था। जिन्होंने नई पद्धतियों का स्वीकार किया उनको प्रगतिशील किसान घोषित किया गया, शहरों की सैर कराई गई और नगद इनामों और उपाधियों से नवाज़ा गया।

पिछली सदी के आठवें दशक के आते-आते जो फार्मर संगठन देश के कई राज्यों में बनने लगे, उनकी माँगें उपज के दाम, बाजार, बिजली और खादों के लिए सब्सिडी इनसे सम्बन्ध रखती हैं। नवें दशक तक यह साफ़ हो गया था कि छठे दशक की मुख्यतया पेज़ंट-अर्थव्यवस्था व्यवसायी पूंजीवादी खेती व्यवस्था में परिवर्तित हो चुकी है। खेती के आधुनिकीकरण और व्यवसायीकरण से पहले रूस और कुछ अन्य देशों ने राज्य के संगठित बल के सहारे सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को अंजाम दिया था। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे यहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अपेक्षतया कम कष्ट-दायी रही। हो सकता है कि इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ ये परिवर्तन काफी बाद में हुए। फिर भी उन अन्य देशों में भी जहाँ स्थितियां कमोबेश हमारे जैसी ही थीं, ये परिवर्तन उतने 'शांतिमय' नहीं थे जितने कि यहाँ।

अंत में ...

फार्मर आन्दोलनों के संदर्भ में अक्सर, विशेषतः पिछले साल के आन्दोलन के बाद से एक प्रश्न किया जाता है। वह यह है कि, 'क्या फार्मर भारत पर राज कर सकता है?'। 'क्या ये आन्दोलन हमारे सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे में मौलिक परिवर्तन कर सकते हैं?' दूसरे शब्दों में, 'क्या फार्मर सामाजिक क्रान्ति का जनक हो सकता है?'। इस पर मेरा अपना अनुमान यह है कि ऐसी कोई बात नज़र नहीं आती जिसके बल पर यह कहा जा सके कि फार्मर वास्तव में समाज बदलना चाहते हैं। मैं फार्मर के वर्ग-चरित्र, या उनकी सामाजिक चेतना, या समाज-परिवर्तन के लिए उनकी गोलबंदी के सवालों में नहीं जाऊँगा। लेकिन मुझे ऐसा महसूस होता है कि संयुक्त किसान मोर्चा के नेतृत्व में फार्मर राजनीति में कूदने से कतराता है। बार-बार अपनी गैर-राजनितिकता की उनकी घोषणा दो ही बातों की संभावना इंगित करती है: एक तो यह कि राजनीतिक भूमिका लेने की उनकी आज मानसिकता नहीं है; या फिर यह कि वे अपने आप को देश की राजनीति को आकार देने वालों की भूमिका में नहीं देखते। यह भी सच है कि मेरे पास इस 'राजनीतिक निरीच्छा' का कोई खुलासा नहीं है।

संभव है कि लेनिन ने जिसे (अक्टूबर 1917 की रूसी क्रान्ति से पहले के ट्रेड-यूनियनों की संघर्ष-प्रणाली की जिस बीमारी को) अर्थवाद कहा वही आन्दोलन पर हावी है।